*क्या समाज में असमानता एवं विरोधाभासों का हल उन्हें दरी के नीचे दबा देना है या उन पर संवाद करना? क्या किसी बहुलार्थी पाठ या चित्र को हटा देना समस्या का हल है? लेख कहता है कि मौजूदा पाठ्यपुस्तकें विवादों से घबराकर भागती नहीं बल्कि उनसे टकराती हैं। ये पुस्तकें बच्चों को उपदेशों की खुराक नहीं देतीं बल्कि विद्यार्थियों को सोचने के लिए आमंत्रित करती हैं और यही वे चीजें हैं जो इन किताबों को शिक्षणशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बनाती हैं।*

# बिगड़ैल बच्चे की खोज में

हिमांशु पंड्या

''**क्या** आपको इस बात का अहसास है कि ताकाहाशी को 'तुम्हारी पूंछ तो नहीं है?' पूछने पर कैसा लगा होगा'' बच्चे शिक्षिका का जवाब नहीं सुन पाए. उस समय तोत्तो चान यह नहीं समझ पाई कि पूंछ वाली बात से हेडमास्टर साहब इतना नाराज क्यों हुए होंगे क्योंकि अगर कोई उससे यह पूछता कि तोत्तो चान तुम्हारे क्या पूंछ है? तो उसे तो इस बात में मजा ही आता।

-'तोत्तो चान' (तेत्सुको कुरोयानागी, अनुवाद - पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा)

## दलित चेतना और कार्टूनों का पुनर्पाठ

इस कार्टून पर चली ऐतिहासिक बहस के बाद अब यह पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि साहित्य से आगे अभिव्यक्ति के अन्य क्षेत्रों में भी दलित चेतना ने दस्तक दे दी है। शायद हम कल चित्रकला और बहुत आगे संगीत में भी दलित चेतना युक्त दृष्टि से इतिहास का पुनर्पाठ देखेंगे।

सावरी वेबसाइट पर छपे लेख में अश्वेतों के इतिहास में कोड़े के प्रतीकात्मक स्थान और इस बिम्ब के निहितार्थों पर चर्चा की गई है। एस. आनंद ने अपने लेख में घोंघे की सुस्ती को सवर्ण मानस में बसी काहिल दलित की छवि से जोड़ा है और इस तरह यह आरक्षण विरोधी हुडदंगियों के 'मेरिट' के हो-हल्ले से सीधे जुड़ जाता है। इन भाष्यों को देखने के बाद अब यह कार्टून इतना निर्दोष नहीं रह जाता। मैं आगे बढ़कर यह भी रखना चाहता हूं कि उन्मती श्याम सुन्दर द्वारा शंकर के 1933 के जिस दुर्लभ कार्टून को हमारे सामने लाया गया है और फेसबुक पर अब तक जिसके चार सौ पिचासी शेयर हो चुके हैं और जो शंकर के वर्णाश्रम

**परिचय**

पिछले 13 वर्षों से कॉलेज शिक्षा में साहित्य के प्राध्यापक हैं।

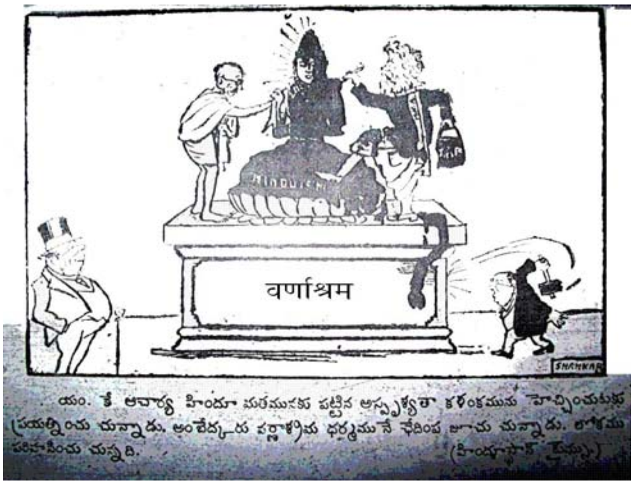


विरोध के प्रमाण स्वरूप लगाई जा रही है, उसका भी पुनर्पाठ आवश्यक है। जरा उस कार्टून को एक बार फिर देखें, उस कार्टून में एक मूर्ति है, जो मूल रूप में सुन्दर ही लग रही है। एक आदमी उस पर कालिख पोत रहा है, दूसरा उसे गिराने की कोशिश कर रहा है, तीसरा उसे साफ कर संवार रहा है। कार्टून का नायक कौन हुआ? उस कार्टून से यह कहां पता चलता है कि शंकर वर्णाश्रम को समाज के लिए कोढ़ और इसलिए त्याज्य मानते थे? क्या वर्णाश्रम की मूर्ति किसी देवी सरीखी नहीं लग रही? या अगर उस मूर्ति को हिन्दू धर्म मानें तो वर्णाश्रम उसकी आधारशिला है, जिसे तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं अंबेडकर। किसी भी तरह से पढ़िए, समस्या बरकरार रहती है।

दलित चेतना के साथ इतिहास का पुनर्पाठ कई असहज कर देने वाले लेकिन जरूरी पाठ सामने ला सकता है। वीरेंद्र यादव द्वारा चांद पत्रिका के कई कार्टूनों को प्रस्तुत करने का उल्लेखनीय काम किया गया है। ध्यान से देखें, इनमें से किसी कार्टून में दलित प्रतिरोध की भूमिका में नहीं है, ये सारे कार्टून सवर्णों के अत्याचारों और दोहरे चरित्र को उजागर करके हमारे मन में जातिवादियों के प्रति धिक्कार और दलितों के प्रति दयाभाव ही उत्पन्न करते हैं। इनका मूल भाव 'करुणा' है। इसके मुकाबले उन्मति श्याम सुन्दर के बनाए नए कार्टूनों को रखकर देख लें, बात आईने की तरह साफ हो जाएगी। कार्टून चित्रण ने भी नवजागरणकालीन सुधारवाद से लेकर आज की विद्रोह चेतना तक का लंबा सफर तय किया है।

## क्या दृश्य प्रस्तुतिकरण की स्वतंत्र भाषा होती है?

विवादित कार्टून के पक्ष में यह तर्क दिया गया है कि इसके साथ का विश्लेषण इसके गलत पाठ की गुंजाइश नहीं रहने देता। यह सही बात के लिए गलत तर्क है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि यह 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005' के मूल आग्रह के उलट है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005, अपनी भूमिका में ही इस पुरानी धारणा को खारिज करती है कि ज्ञान सूचना है और बच्चे उसके ग्रहणकर्ता। सीखना रटना नहीं है और शिक्षा एक सहभागी प्रक्रिया है जिसमें बच्चा अपनी रचनात्मकता, सर्जनात्मकता से सीखता है, नए-नए अर्थ ग्रहण करता है और अंततः नए ज्ञान की रचना की अपनी मानवीय सामर्थ्य में इजाफा करता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के अनुसार, ''इस सन्दर्भ में, सहयोगी शिक्षण के लिए अर्थ की बहुलता और बाह्य यथार्थ के अंदरूनी प्रतिनिधित्व को पर्याप्त जगह दिए जाने की जरूरत है। निर्मिति यह संकेत देती है कि हर विद्यार्थी व्यक्तिगत और सामाजिक तौर पर अर्थ का निर्माण करता है। अर्थ निर्माण (ही) सीखना है।'' (एनसीएफ 2005, पृष्ठ 20)

अर्थ की बहुलता और विद्यार्थी द्वारा अपनी व्यक्तिगत और सामाजिक प्रस्थिति द्वारा अर्थ ग्रहण करने की इस अवधारणा को साहित्य की किताबों में भी जगह दी गई है। हिन्दी की सभी किताबों के प्रारम्भ में दी गई भूमिका कहती है,

''कविता जीवन अनुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति है। वह मनुष्य के भावजगत का विस्तार करती है। उसकी

कल्पना शक्ति को जगाती है और सौंदर्यबोध का विस्तार करती है। हम जानते हैं कि साहित्य की कोई अकेली समझ नहीं होती है और समझने-समझाने के कोई पूर्व-निर्धारित उपाय भी नहीं होते। विशेष रूप से कविता का कथ्य साझेदारी के बिना पूरी तरह समझ में नहीं आ सकता। कविता का अर्थ खण्डों में नहीं समग्र प्रभाव के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। शिक्षण में यह भी ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि कविताओं का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं होता है इसलिए विद्यार्थियों को कल्पना करने की *पूरी छूट देनी चाहिए*।'' (क्षितिज, कक्षा 10, पृष्ठ vii, बल मेरा)

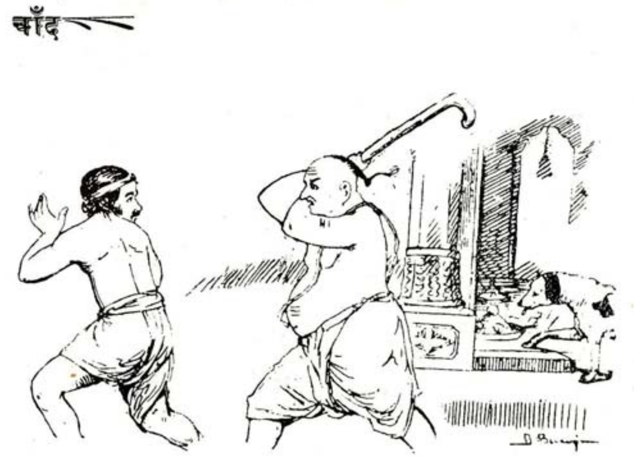


कुत्ता 'पाता है प्रसाद' और मार खा रहा उधर चमार !
देखो तनिक पुजारी जी का, है कितना सुन्दर व्यापार !!

यह नीति सिर्फ पठन-पाठन तक ही नहीं रही बल्कि परीक्षा में भी लागू की गई। आगे शिक्षकों के लिए कहा गया है, ''प्रायः यह देखा गया है कि शिक्षक प्रश्नों के उत्तर का एक ढांचा निर्मित कर लेता है और उससे अलग प्रकार के उत्तरों की अपेक्षा वह विद्यार्थियों से नहीं करता। भाषा और साहित्य के प्रश्न बंधे-बंधाए उत्तरों तक सीमित नहीं हो सकते। उनमें तर्क, खोजबीन और अपनी तरह से अर्थ ग्रहण करने की असीम संभावनाएं होती हैं। शिक्षक को उदारता दिखाते हुए विद्यार्थियों के उत्तर स्वीकारने चाहिएं।'' (वही, पृष्ठ - viii)

बताने की जरूरत नहीं कि यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था जो हमारे स्कूलों में हिन्दी की कक्षा में आज तक कविता पाठ के नाम पर चले आए कर्मकांड से स्पष्ट विचलन था। पचास साल तक हिन्दी की कक्षा में चली आई इस परंपरा के बारे में ही कृष्ण कुमार ने लिखा था, ''हिन्दी विषय के अंतर्गत पढ़ाई जाने वाली तथाकथित कविताएं पढ़कर बच्चों को दी गई पंक्तियों का लक्ष्यार्थ पहचानना और लिखना होता है। जिसे मैं 'लक्ष्यार्थ' कह रहा हूं, वह प्रायः एक घिसे हुए प्रतीकार्थ जैसा दीखता अवश्य है, पर उसे प्रतीकार्थ कहना ठीक नहीं होगा। प्रतीकों में आभा का गुण होता है, यानी जिस भाव या अनुभव की क्षणिक रचना वे मन में करते हैं, उसके इर्द-गिर्द एक आभावृत्त की गुंजाइश रहती है। इस आभावृत्त को हम एक ऐसा निर्जन क्षेत्र कह सकते हैं जिसमें हमारी कल्पना कविता की मदद से थोड़ी देर विचर लेती है और ऐसा कुछ देख लेने में समर्थ हो जाती है जो निर्दिष्ट नहीं था - कवि के द्वारा तो नहीं ही था, हमारे होशियार मन द्वारा भी नहीं। इसी निर्जन क्षेत्र के दरवाजे खोलने की क्षमता के कारण ही कविता की शिक्षा को भाषा शिक्षण की सामान्य, सीमित परिधि के परे जाने वाली शिक्षा माना जा सकता है। कविता ही भाषा शिक्षण में यह मुक्तिदाई आयाम जोड़ सकती है।'' (स्कूल की हिन्दी, पृष्ठ 74-75)

लेकिन होता क्या है? बकौल कृष्ण कुमार, ''भाषा का शिक्षण बिम्ब निर्माण और कल्पित सृष्टि में रमने की सामर्थ्य पैदा करने की जगह आनुष्ठानिक उच्चार की ट्रेनिंग बन जाता है। यही हमारी लाखों कक्षाओं में हिन्दी की घंटी में रोज घटने वाली सांस्कृतिक दुर्घटना है।'' (वही, पृष्ठ 78)

किसी भी रचना (पढ़ें कार्टून) को एक व्याख्या देकर उसमें बांध देना और कुछ भी हो, शिक्षा नहीं है। यह रचना (पढ़ें दृश्य माध्यम) की स्वायत्त सत्ता को खारिज करना भी है।

## क्या हम बहुलार्थ से डरते हैं?

किसी रचना के बहुलार्थ (की संभावना) से प्रायः सत्ताएं डरती पाई गईं हैं, वंचित समुदाय नहीं। वंचित समुदाय जानते हैं कि रचना को एकार्थ तक सीमित करना हमेशा वर्चस्वशाली वर्ग के हित में जाएगा। लाल्टू, अनूप कुमार और एस. सुकुमार ने एक सामान्य भारतीय कक्षा के स्तरीकृत चरित्र और उस कक्षा में बैठे दलित विद्यार्थियों पर उस कार्टून के दुष्प्रभावों की संभावना को चिह्नित किया है। मैं उनकी चिंताओं में साझा करता हूं लेकिन देखने की जरूरत ये है कि कहीं हम समाजीकरण की बेहद जटिल प्रक्रिया को अनदेखा तो नहीं कर रहे। हमारी कक्षा, हमारे समाज का ही छोटा रूप है और उसमें सभी असमानताएं विद्यमान हैं।

गणवेश के जरिए उस असमानता को ढांपने की एक ऊपरी कोशिश की जाती है। गणवेश एक होने मात्र से, कोई भी, कोई भी बच्चा कक्षा की असमतल संरचना से अनभिज्ञ नहीं रहता और वह जितनी जल्दी इसे समझ ले उतना ही अच्छा। कोई भी, निर्दोष से निर्दोष प्रतीत होती रचना पाठक को अपनी सामाजिक प्रस्थिति से उसका अलग अर्थ ग्रहण करा सकती है। ''चिंता रहित खेलना खाना, वह फिरना निर्भय स्वच्छंद/कैसे भूला जा सकता है, बचपन का अतुलित आनंद'' किसी दलित या किसी बाल श्रमिक या किसी यौन उत्पीड़न का शिकार रहे बच्चे के लिए क्रूर व्यंग्य हो सकती है। इस दमितार्थ का पठन उनके लिए दो तरह से प्रभावी हो सकता है, एक - उनमें हीन भावना भर दे। दूसरा - उन्हें इस व्यवस्था को बदलने के लिए संकल्पबद्ध करे। यहां किताब का इस दृष्टि से अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वह वंचितों को इस संकल्पबद्धता के लिए पर्याप्त सबलीकृत करने का माद्दा रखती है या नहीं।

विवादित किताब में (शंकर का ही) एक और कार्टून है जिसमें नेहरू एक बड़े से हाथी को पूंछ पकड़कर नियंत्रित करने की असफल कोशिश कर रहे हैं। हाथी है - सार्वभौम मताधिकार। यह कार्टून मेरे तईं सीधे-सीधे उस साम्राज्यवादी दृष्टि का विस्तार है जो मानती थी कि भारत में यह व्यवस्था चार दिन नहीं टिक पाएगी। जाहिर है, यह इसका प्रत्यक्षार्थ है और संपादक मंडल ने इसे जानते हुए ही यहां रखा। कार्टून विरोधियों के तर्क से यह संपूर्ण नागरिकों के लिए आपत्तिजनक होना चाहिए था लेकिन अफसोस, इससे किसी वंचित अस्मिता को ठेस नहीं पहुंचती। सच तो यह है कि यह कार्टून मूलतः वंचित वर्गों और अस्मिताओं के ही खिलाफ है क्योंकि सार्वभौम मताधिकार ने बराबरी की नागरिकता के उनके स्वयंसिद्ध अधिकार पर मुहर ही लगाई थी। यहां रेखांकित करने वाली बात ये है कि प्रत्यक्षतः प्रतिक्रियावादी कार्टून को भी किताब में जगह दी गई क्योंकि किताब का उद्देश्य यही था कि बच्चे इस कार्टून के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अख्तियार कर सकें।

यह किताब/किताबें एक नहीं अनेक जगह आसान रास्ता छोड़कर, बच्चों को घेरकर, जहां उन्हें बात करनी ही पड़े, ऐसे मुश्किल दोराहे पर लाकर खड़ा करती हैं। इसके लिए सबसे दिलचस्प है नौवीं की किताब 'लोकतांत्रिक राजनीति' का ये उदाहरण - 'संस्थाओं का कामकाज' शीर्षक अध्याय में 'प्रमुख नीतिगत फैसले कैसे लिए जाते हैं?' शीर्षक खंड में उदाहरण के रूप में तेरह अगस्त, 1990 के सरकार के उस आदेश को चुना गया है जिसके तहत पिछड़ा वर्ग के लिए सताईस प्रतिशत आरक्षण सुनिश्चित किया गया। मंडल आयोग की सिफारिशें, कैबिनेट का निर्णय, राष्ट्रपति की भूमिका, नौकरशाही द्वारा लागू किया जाना, सभी प्रक्रियाओं को विस्तार से बताकर पुस्तक बताती है कि कोई फैसला किन-किन चरणों से गुजरकर लागू होता है।

यहां कोई-सा भी मामूली उदाहरण लिया जा सकता था, पर किताब सबसे संवेदनशील फैसले को लेकर उसका उल्लेख करती है और एक तरह से उसके औचित्य को साबित करती है। किताब विवादों से भागती नहीं उनसे टकराती है। कहने का मतलब यह है कि जिस आशंका की ओर हमारे दोस्तों ने इशारा किया है, उससे उन्हें वहां तो बचा लिया जाएगा, पर और कहीं या कक्षा के बाहर यही सवाल उनके सामने चुनौती बनकर आए

तो... किताब इसके लिए उन्हें सीधे ऐसे सवाल से मुठभेड़ के लिए तैयार करने की रणनीति अपनाती है।

कहा जा सकता है कि ये किताबें विवादों से भागती नहीं बल्कि उनसे टकराती हैं। केदारनाथ सिंह की शब्दावली काम में लें तो ये पोस्टकार्ड की तरह खुली और खतरनाक हैं। विडम्बना ये है कि इन पर हमला उस वंचित तबके की तरफ से हुआ है जिसके लिए किताब में विवादों का होना सबसे सकारात्मक परिघटना होनी चाहिए थी क्योंकि विवादहीनता स्तरीकृत सामाजिक संरचना के सामने नतमस्तक होना ही सिखाती है जबकि विवाद सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल को अभिव्यक्त करते हैं। ठेस लगने के आधार पर संवेदनशील तथ्यों का अवलोपन अंततः दलित अस्मिता के खिलाफ ही जाएगा क्योंकि दलित चेतना ठेस लगने/लगाने को एक राजनीतिक कार्रवाई मानती है।

कुत्ता घेरे में आया पर चौका उससे हुआ न छूत!
हाय, उसी का भाग्य बुरा है, बैठा कितनी दूरी अछूत!!

हो जावेगा कूप अपावन, छुओ न इसको, रहना दूर,
प्यासों मरते जन से ब्राह्मण कहता है हो मद में चूर!

## पाठ्यपुस्तक और पाठ्यपुस्तक से परे

पहली बार इन किताबों में स्वायत्तता को मूर्त रूप में देखा गया है। जनांदोलनों के अध्याय में नर्मदा बचाओ आंदोलन, सूचना का अधिकार, दलित पैंथर, भारतीय किसान यूनियन को जगह मिली है (स्वतंत्र भारत में राजनीति, कक्षा 12)। पहली बार सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार पर पूरा अध्याय शामिल किया गया है (भारतीय समाज, कक्षा 12)। इस अध्याय में एक दो पेज लंबी रिपोर्ट छापी गई है जो तहलका से ली गई है। शीर्षक है- दलित प्रतिरोध का समकालीन उदाहरण। इसमें गोहाना हत्याकांड, फिर दलितों के फिर उठकर खड़े होने, उनकी अस्मिता और स्वाभिमान की घोषणा का पूरा विवरण है। 'विकास के नाम पर आदिवासी गोली वर्षा का शिकार', ये दूसरी लंबी रिपोर्ट है जो भी दो पेज की है। इसमें कलिंगनगर हत्याकांड का पूरा विवरण है। पीयूसीएल की इस रिपोर्ट में प्राकृतिक संसाधनों की लूट, पुनर्वास की खोखली नीतियां सभी कुछ का उल्लेख है। (वैसे इन विषयों को ध्यान से पढ़ने पर समझना मुश्किल नहीं कि अर्जुन सिंह से कपिल सिब्बल तक आते आते स्वायत्तता क्यों सरकार के गले की हड्डी बन गई है।)

ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं और इनमें से प्रत्येक मुद्दा ऐसा संवेदनशील मुद्दा है जिस पर स्तरीकृत संरचना वाली कक्षा में अप्रिय विवाद होने और पूर्वाग्रहग्रस्त अध्यापक द्वारा कुपाठ के सारे खतरे मौजूद हैं। यहीं ये किताबें महत्त्वपूर्ण हो उठती हैं। इन किताबों की विशेषता यह नहीं है कि ये एक समानांतर विचार (धारा) या विषयवस्तु लेकर आईं बल्कि यह है कि ये अंतिम सत्य होने का दावा नहीं करतीं। हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों में किस तरह रचना के आधिकारिक पाठ की तानाशाही को खत्म किया गया है, इसका उदाहरण मैंने ऊपर दिया। राजनीति विज्ञान की किताबों में अनेक छिटपुट लेकिन उलझे, अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार के लिए बच्चे को उकसाते सवाल हैं, मसलन ये : क्या आप मानते हैं कि निम्न परिस्थितियां स्वतंत्रता के अधिकार पर प्रतिबंधों की मांग करती हैं? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दें - (क) शहर में सांप्रदायिक दंगों के बाद लोग शान्ति मार्च के लिए एकत्र हुए हैं। (ख) दलितों को मंदिर प्रवेश की मनाही है। मंदिर में जबरदस्ती प्रवेश के लिए एक जुलूस का आयोजन किया जा रहा है। (ग) सैकड़ों आदिवासियों ने अपने परंपरागत अस्त्रों तीर-कमान और कुल्हाड़ी के साथ सड़क जाम कर रखा है। वे मांग कर रहे हैं कि एक उद्योग के लिए अधिग्रहीत खाली जमीन उन्हें लौटाई जाए। (घ) किसी जाति की पंचायत की बैठक यह तय करने के लिए बुलाई गई है कि जाति से बाहर विवाह करने के लिए एक नव-दंपत्ति को क्या दंड दिया जाए। (विवादित पुस्तक से) इस तरह के सवाल यह सुनिश्चित करने के लिए हैं कि हर मुद्दे के लिए

एक सार्वभौम नियम लागू नहीं हो सकता और सन्दर्भ बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उन्नी और मुन्नी नाम के दो बाल चरित्र सभी किताबों में हैं। ये जो सवाल पूछते हैं वे किसी को भी परेशान करने के लिए काफी हैं। उदाहरण के लिए, ''मैंने तो यह भी सुना है कि लोकतंत्र एक ऐसी जगह है जहां लोक पर तंत्र हावी रहता है। आपकी इस बारे में क्या राय है?'' इससे पहले कि हम हडबड़ी में इस सवाल को अधिनायकवाद की वकालत करता हुआ घोषित कर दें, यह जान लेना चाहिए कि किताब में एक मैडम लिंगदोह की कक्षा बनाई गई है जो अनेक मुद्दों पर चर्चा करती है। लोकतंत्र के नाम पर इराक पर अमरीकी हमले की भी, बच्चों में लोकतंत्र की वर्तमान स्थिति को लेकर हताशा की भी और लोकतंत्र की मूल ताकत - उसकी जवाबदेही की भी। इसके बाद भी यह किताब अनेक कोष्ठकों में बच्चों को सहमति-असहमति की गुंजाइश देकर खुद (किताब) पर सवाल करने की जगह देती चलती है।

ये किताबें बच्चों को उपदेशों की खुराक नहीं सहभागिता की चुनौती देती हैं। किताब और अध्यापक दोनों सवालों के घेरे में हैं। कहने का अर्थ यह कि इसके पीछे यह शिक्षाशास्त्रीय समझ है कि ज्ञान की वस्तुनिष्ठता का दावा छलावा है और इसलिए बेहतर हो विद्यार्थियों को जवाब नहीं सवाल दिए जाएं। अभी तक चली आ रही पढ़ाई की परंपरागत पद्धति को सर के बल खड़ा कर देने वाली इस दृष्टि से सामंजस्य कई लोगों के लिए बहुत मुश्किल है। जैसा कि (योगेन्द्र यादव ने उद्धृत किया कि) एक सांसद महोदय ने टी.वी. पर कहा कि इन किताबों की गड़बड़ ये है कि बच्चे के मन में संदेह पैदा करती हैं (!) पिछले दिनों 'विशेषज्ञता' को जो गरियाया जाता रहा है, उसके पीछे भी बच्चों की किताब और बच्चों को कैसे पढ़ाया जाए, इसे 'बच्चों जैसा सवाल' मानने की समझ ही नजर आती है।

न कार्टून महत्त्वपूर्ण है, न पाठ्यपुस्तकें महत्त्वपूर्ण हैं और न योगेन्द्र यादव- सुहास पलशीकर महत्त्वपूर्ण हैं। पर वह शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि जरूर महत्त्वपूर्ण है जो इस सारे घटनाक्रम की बलि चढ़ने जा रही है और जो अब आने वाली सरकारों को कार्टून रहित (पढ़ें आलोचना रहित), विवाद रहित (पढ़ें, बच्चों को सवाल उठाना नहीं, किताब को आप्तवचन की तरह ग्रहण करना सिखाने वाली), द्वेष रहित (पढ़ें, स्तरीकृत समाज में वर्चस्वशाली वर्ग के लिए सुविधाजनक 'सद्‌भाव' बनाए रखने वाली) आदर्श नागरिक (परमाणु परीक्षण से हर्षोन्मत्त, आठ फीसदी की विकास दर से अभिभूत, सरकार की नीतियों से कदमताल मिलाने वाले गुलाम) बनाने वाली किताबें लाने के लिए आधारभूमि तैयार करेगी।

## असल में, कौन हंस रहा है?

इस बीच हमारी शिक्षा व्यवस्था पर कुछ और भी गहन संकट मंडरा रहे हैं। यूपीए के दूसरे कार्यकाल में देश आर्थिक सुधारों के अगले चरण में छलांग लगाने को तैयार है। समाज विज्ञान और मानविकी पर खतरा सबसे ज्यादा है और यही मोर्चे के क्षेत्र भी हैं। उच्च शिक्षा में वंचित तबके के प्रवेश की ही संभावनाएं सीमित होती जाएंगी और विद्यालयी शिक्षा में वे अपनी स्वीकृत सामाजिक भूमिका का उल्लंघन न करें इसके लिए पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों को नियंत्रित किया जाएगा।

सचमुच ये किताबें बच्चों को बिगाड़ सकती हैं। नवउदारवाद के साथ कदमताल मिला रहे लोगों को बिगड़ैल बच्चे नहीं चाहिएं। तो फिर, बिगड़ैल बच्चों की जरूरत असल में किसे है? ◆